A STUDY ON THE "NIRVANA"

- P. G. Yogi

The subject of Nirvana is extremely sublime and difficult besides being-quite vast in nature, making any attempt to say anything on the topic would always be like presenting a candlelight before the mighty sun. Keeping in view the comprehensiveness and the seriousness of the subject matter, I have chosen only two aspects of it as the object of my study. Within my parvious view are also the opinions of such great scholars as Prof. La vallee poussein, Prof. Robert Caeser Childers, Dr. T. W. Rhys Davids, Prof. Saint Hillary etc. regarding the main tenets of the Hinayana (Sthaviravada) and Mahayana scholars of Buddhism have been discussed.

The teachings of lord Buddha may be divided into two aspects (a) Philosophical and (b) moral, the two groups are interwoven in such a way that one cannot be understood properly without a knowledge of the other. The fundamental principle of the Buddha's philosophy is the theory of causation or dependent origination/ Pratitya-Samutpada. According to this theory, the continous existence of a being is like a wheel of causes and effects. Ignorance gives rise to actions, then in their turn come consiousness, phenomena (nama-Rupa), the six senses-contact, feeling, craving, grasping, becoming, birth and suffering. If the last effect is to be distroyed, the primary cause, which is ignorance must be eradicated.

Another improtant theory of the Buddha concerns the four Noble Truths, the first being that all existence is full of suffering. The second truth is that all sufferings has a cause. The third is that suffering can be made to mollified to an end and the last that there is a way to end the sufferings.

The critics of Buddhism will no doubt consider the first two truths pessimistic but the other two certainly provide grounds for optimism. Why does the Buddha say that the existence of being is full of suffering? Because all beings are subject to rebirth, decay, disease, death and again rebirth. Even pleasures and worldly happiness lead one to sorrow because they are transitory and the loss of pleasure and happiness is worse than never to have had them. As a good doctor tries to dygnosis the cause of the malady before administering a remedy, the Buddha, the Great spiritual physician tried to find the ultimate cause of worldly suffering, Not only the suffering of human beings but that of all animate creatures. He found the cause of ignorance or craving arising from them. The doctor removes the cause of the patient's disease and thus cures it. The Buddha similarly asks the people to remove their ignorance of truth and their craving for happiness. The cessation of suffering is called Nirvana, the summum bonum, beyond logical reasoning and beyond description. It is not a negative condition but a positive, unconditioned state realized by the mind.

How can this nirvana be attained? By the fourth Noble truth, the Noble Eight-fold path, It is also called the middle path by which the wayfarers avoids the two extremes. He neither follows the path of self-mortification nor that of self-indulgence.

The Buddha's path followed neither, but led to vision, knowledge, tranquility

and nirvana. Formulated by the Buddha, it is an evidence of his logical reasoning and practical wisdom. Each step in the process is an inevitable advance on the path leading to the ideal (Nirvana).

The Buddha's religion is not a dogmatic and elaborate system of rites, rules or prayers but a way of life, of purity in thinking, speaking and acting. The Buddha was the first rationalist of the world who asserted that one's own saviour and master without reference to any outside power.

"Handa dani bhikkhave amantayami Bho : Vayadhamma sankhara, appamadenasampadetha'ti." (Majjhima-Nikaya-Mahaparinibbana-Sutta)

"Verily, I say unto you now, O monks, All things are perishable work out your deliverance with earnestness.

These were his last words. His spirit sank into the depths of mystic absorption and when he had attained to that degree where all thoughts, all conceptions disappear, when the consciousness of individuality cease, He entered into the supreme nirvana.

"Bhavatu Sabba Mungalam" "With Metta" !!!

"नमोतस्सभगवतो - अरहतोसम्मासम्बुद्धस्स"

निर्वाण

एक अध्ययन

- पी. जी. योगी

समस्त भारतीय एवं पश्चात्य दर्शनों का शिक्षा का एक मात्र केन्द्रबिन्दू निर्वाण हैं, किन्तु निर्वान के स्वरूप के सम्बन्ध में अवश्य मत भेद हैं। निर्वाण का स्वरूप चाहे जो हो, यह समान रूप से स्पष्ट हैं। कि निर्वाण संसार-दुःख का अत्यन्त निरोध हैं, विद्वानों का विचार हैं, कि आत्म-प्रतिषेध, इश्वर-प्रतिषेध, सहेतुक और क्षणिक सत्ता का सिद्धान्तों के होते हुए निर्वाण निरोध मात्र, अभाव मात्र ही हो सकता हैं।

पाश्चात्य विद्वानों का मत :- सेण्टहिलेरी, चाइल्डर्स, रोजडेविड्स और विशल का विचार हैं कि बुद्ध तथा उनके अनुयायियों ने अपने सिद्धान्तों के इस अनिवार्य निष्कर्ष को विचार कोटी में लिया हैं। और वह निर्वाण का स्वरूप अभाव मात्र ठहराते हैं। रीज डेविड के अनुसार निर्वाण श्रमण्य (श्रमणधर्म) हैं। बर्थ और ओल्डनबर्ग का मत हैं कि बौद्ध जानते हैं, उनके सिद्धान्तों का झुकाव किस ओर हैं, तथापि स्पष्ट कहने में विचिकित्सा (संका) होती हैं। इनके अनुसार निर्वाण का स्वरूप का वर्णन अलंकारिक भाषा में किया हैं। जैसे :- द्वीप, शरण और अम्दत तथा यह स्वीकार किया हैं, कि निर्वाण के स्वरूप का व्याकरण बुद्ध ने नहीं किया हैं। बुद्ध ने इसे "स्थापनीय" प्रश्न कह कर इसका व्याकरण नहीं किया हैं। और कहा कि इन प्रश्नों की उलझन में पड़ना निरर्थक और निस्प्रयोजनीय हैं। किन्तु सब विद्वान् समानरूप से मानते हैं कि बौद्ध उपासकों की दृष्टि में निर्वाण एक प्रकार का स्वर्ग हैं।

पालि अमिधम्म में चित्त और रूप दोनो के नैरात्म्य की प्रतिज्ञा हैं। वह आत्मा का सर्वथा प्रतिषेध करते हैं और निर्वाण का 'लक्षण दुःख का नाश' और 'विराग' तथा 'रागक्षय' बताते हैं। इस प्रकार हम निर्वाण को ऐहिक सुख मान सकते हैं किन्तु परम लक्ष्य नहीं। सूत्रान्त इसे स्थापनीय प्रश्न मानते हैं और कुछ सूत्रान्त ऐसे हैं जो निर्वाण को अजात्, अमृत, अनन्त कहते हैं। बर्नूफ के समय से यूरोपीय दार्शनीक बार बार यही मत प्रकट करते आये हैं कि 'निर्वाण' अभावमात्र ही हो सकता हैं। पूसें का मत हैं कि 'बुद्ध' योगी थे और अवाच्य की अभिज्ञता रखते थे जो न भाव है और न अभाव। यह प्रपंचातीत हैं। वह कहते हैं कि यह समझना कठिन हैं कि बौद्ध निर्वाण को अमृत, योगक्षेम और अच्युत क्यों कहते हैं। रीजडेविड् 'अमृत' का यह निरूपण करते हैं कि यह आर्यों का आहार हैं। और निर्वाण का अर्थ वीत राग पुरूषकी सम्यक प्रज्ञा कहते हैं। कर्न यह कहते हैं मि बुद्ध पर मृत्यु का कोई अधिकार नहीं हैं। और उन्हों ने उस अमृत पद् का अविष्कार किया हैं, जिसके द्वारा उस परम सत्यका अधिगम होता हैं जो

मनुष्यको मृत्यु पर अधिपत्य प्रदान करता हैं और निर्भय बनाता हैं।

रीजडेविड्स के अनुसार बुद्ध का आदर्श आध्यात्मिक और उनके निर्वाण का अर्थ इस लोक में प्रज्ञा और सम्यक् शान्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त करना था। किन्तु श्रावक शास्ता के विचारों को सम्यकरूप से समझने में असमर्थ थे और उन्हों ने इस आदर्श को अमृत, अनन्त द्वीपादि की आख्याएँ दी।

पूसों के अनुसार इन विद्वानों की भूल इस में हैं कि वे बौद्धधर्म को वैज्ञानिक मतवाद समझते हैं। वे यह भूलगये कि बौद्ध धर्म एक वैराग्य प्रधान धार्मिक संस्था हैं। सेनार्त ने इस विचार का विरोध किया कि बौद्धधर्म एक वैज्ञानिकमतवाद हैं।

सेनार्त के अनुसार निर्वाण का अर्थ भारतवर्ष में सदा से परमक्षेम और मोक्ष रहा हैं, जो अभावकी संज्ञा से सर्वथापरे हैं। सेनार्त ने बौद्धधर्म के प्रभाव की परीक्षा की हैं, उनका कहना हैं कि बौद्धधर्म का उद्गमस्थान 'योग' हैं। योग भारत की पुरातन शिक्षा हैं। इस में यम, नियम, ध्यान, धारणा, समाधि और ऋद्धि-सिद्धिका समावेश हैं। योगी लोकोत्रर-शक्ति की प्राप्ति तथा मोक्षलाभ के लिए समानरूप से यत्नवान् होता हैं।

यह धारणा हैं कि बुद्ध की शिक्षा का आधार वेदान्त, उपनिषद् अथवा सांख्य हैं। उन्हों ने वेदान्त के परमात्मा का और सांख्य के पुरूष का निषेध किया हैं और यह भी कि बुद्ध शीलव्रत, पौरोहित्य और वर्ण-धर्म के विरोधी थे तथा आरम्भ में ही बौद्धधर्म निरोधवादी था किन्तु सेनार्त के मत में यह विचार अयथार्थ हैं।

पूसें कहते हैं कि मैं निश्चितरूप से यह नहीं कह सकता कि प्रस्तुत वाक्य बुद्ध वचन हैं :- मैं वेदना का अस्तित्व मानता हूँ किन्तु मैं यह नहीं कहता कि कोई वेद्क हैं। किन्तु यह वाक्य बुद्ध का हो सकता हैं :- 'जाति, जरा, रोग, मरण से अभिभूत मैंने अजात, अजीर्ण अरूग्र्ण अमृत का अन्वेषण किया हैं। एक अजात, अजीर्ण, अमृत आकृत हैं। यदि अजात न होता तो जात के लिए शरण न होता।

बर्थ ने लिखा हैं कि यदि हम यह चाहते हैं, कि निर्वाण अभाव नहीं हैं तो हमको उस धर्म की संज्ञा बतानी चाहिए, जिसका लक्षण बौद्धों के अनुसार शाश्वत (नित्य) हैं किन्तु क्या? यह शाश्वत धर्म निर्वाण नहीं हैं, जिसे पालि में अमताधातु कहते हैं।

पूसें कहते हैं कि बौद्धों का लक्ष्य संसार के नि:सरण (पार) नै:श्रेयस-सुख अनिर्वाच्य अवस्था की प्राप्ति था। कई वचनों से स्पष्ट हैं कि निर्वाण से उनका अर्थ एक परमार्थ सत् से था। अभाव एक निकाय विशेष का ही मत रहा हैं।

इनके विचार से प्रारम्भ की अवस्था में बौद्धधर्म निर्वाण को एक अनिर्वयनीच वस्तु-सत् मानता था। वे इस निष्कर्ष तक पहूँचते हैं कि कोई एक निकाय 'अजात' को वस्तुसत् मानते हैं।

पूसें कहते हैं, कि बौद्धधर्म के दो रूप हैं इन में भेद करना चाहिये। एक उपासकों का धर्म दूसरा भिक्षुओं का। उपासक स्वर्ग (निर्वाण) की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होते हैं और भिक्षु निर्वाण मार्ग का पथिक हैं। उपासक स्तुप, चैत्य की पूजा करते हैं और बौद्ध तीर्थो की यात्रा करते हैं। वे पंचशील का समादान करते हैं, पाप से विरत रहते हैं, उपवास-व्रत रखते हैं। भिक्षुओं

को दान देते हैं, और धर्म श्रवण करते हैं। शील की रक्षा और दान पुजा से वह पुण्य संचय करते हैं। उनके धर्म में निर्वाणका कोई बड़ा स्थान नहीं हैं किन्तु प्रत्येक बौद्ध निर्वाण के प्राप्ती की आशा (इच्छा) रखता हैं। {अभिधर्मकोश 4/49} किन्तु सामान्यत: निर्वाण मार्ग में प्रवेश करने के लिए भिक्षु भाव का होना आवश्यक हैं। अभिधर्मकोश का विचार है कि उपासक 'अर्हत' हो सकता हैं। जिसक्षण में वह अर्हत होता हैं। उसी क्षण में वह 'भिक्षु' होता हैं, उसी दिन वह 'संघ' में प्रवेश करता हैं। मिलिन्दप्रश्न का भी यही मत हैं। कुछ विचारकों के अनुसार वह 'अनागामि फल' का लाभ कर सकता है किन्तु किसी अवस्था में भी वह अर्हत् नहीं होता। केवल भिक्षु ही अर्हत् होता हैं। भिक्षु के लिए ही 'निर्वाण' का मार्ग हैं।

आर्य मार्ग की चर्चा निर्वाण की चर्चा हैं। संघभद्र कहते हैं कि निर्वाण के विचार विमर्श में विचिकित्सा (संका) का उत्पाद नहीं करना चाहिये। क्यों कि निर्वाण के अधिगम के लिए ही श्रमण संसार का परित्याग करते हैं और संघ में प्रवेश करते हैं। निर्वाण स्वर्ग का विपर्याय सा हैं। जीव के दीर्घकालीन संसरण में स्वर्ग का एक स्थान हैं, किन्तु निर्वाण संसार का अन्त हैं। स्वर्ग पुण्य का विपाक हैं, किन्तु निर्वाण संसार का अन्त हैं। स्वर्ग पुण्य का विपाक हैं, किन्तु निर्वाण पाप पुण्य दोनो से परे हैं। इसका एकमात्र लक्ष्य क्लेशराग का विनाश हैं। निर्वाण का अधिगम प्रत्येक को स्वयं करना पड़ता हैं। प्रत्येक पुद्गल (जिव) को स्वयं इसका साक्षात्कार करना होता है। 'बुद्ध' की विशेषता हैं कि उन्हों ने सर्वप्रथम मोक्ष मार्ग का अविष्कार किया और दूसरों को मार्ग - संदर्शन किया।

इसी अर्थ में बुद्ध ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं। वे दूसरों का त्राण, वरप्रदान कर या अपनी ऋद्धि के बल से या प्रभाव से नहीं करते किन्तु सद्धर्म की देशना से करते हैं।

निर्वाण क्या हैं? इस में सन्देह नहीं की यह परमक्षेम हैं, दु:ख और संसार का अन्त हैं, मृत्यु पर विजय है। निर्वाण का यह लक्षण क्या इसलिए हैं कि यह अभाव मात्र हैं? अथवा यह अमृत हैं? यह अमृत पद् हैं, यह सर्वराग दु:ख पुनर्जन्म का निरोध मात्र हैं। यह अभिधर्म का प्रश्न हैं।

कई वचन ऐसे हैं जिन से ज्ञात होता हैं कि भिक्षु और उपासक में बड़ाभेद रखा गया है। जब आनन्द बुद्ध से पूछते हैं कि सुगत के प्रति भिक्षुओं का क्या भाव होना चाहिये तब बुद्ध उनसे कहते हैं कि :- "हे आनन्द! मेरे धातुओं की पुजा की फिक्र न करो सुश्रुत एवं श्रद्धालु क्षत्रिय, ब्राह्मण और नैगम मेरे धातुओं की पुजा करेगें। तुम भिक्षुओं को मोक्ष की साधना में संलग्न होना चाहिये।" (दीघणिकाय 2/141)। कभी-कभी ऐसी प्रतीत होती हैं कि भिक्षु-संवर से भक्ति पुजा और लोकोत्तर बुद्धवाद से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। इसका प्रमाण हैं कि बुद्ध ने भिक्षुओं को तीर्थाटन का आदेश दिया था और भिक्षु स्तुप पुजा करते थे। (कथावत्थु 17/1) से पता चलता हैं कि अर्हत् स्तुपों को माल्य-गन्ध-विलेपन-चढ़ाते थे। हम निर्वाण की चर्चा को धर्म से पृथक नहीं कर सकते। मार्ग में वही प्रवेश कर सकता हैं जिसने पूर्वजन्म में कुशल मूल का आरोपण किया हैं।(अभिधर्म कोश 4/125, 6/24, 7/30,34)।

पूसें का कहना हैं कि बौद्धधर्म योग की एक साखा हैं। योग में ब्रह्मचर्य, यमनियम, ध्यान-

धारणा, समाधि, नासाग्रभ्रू - मध्यादिका दर्शन, काय स्थैर्य, मन्त्र जप, प्राणायाम, तालु में जिह्वा का धारण, महाभूतों का ध्यान, भूत जय, अणिमादिअष्ट ऐश्वर्यों की प्राप्ति लोकोत्तर ज्ञान संगृहीत हैं।

योग की इस प्रक्रिया का धार्मिक जीवन और शील से कोई सम्बन्ध नहीं हैं किन्तु इसका उनसे योग हो सकता हैं। बौद्धधर्म का केन्द्र विन्दू भिक्षु संघ हैं, बुद्ध के पहले श्रमणों के अनेक संघ थे। बुद्ध का भिक्षु संघ भी इसी प्रकार का एक संघ था। अन्य संघो के समान इनके भी शील समाधि के नियम थे। इनकी विशेषता यह थी की इनको बुद्ध जैसा शास्ता मिला, जिनकी शिक्षा से योग की चर्चा और उनके सिद्धान्तों को नयाँ रूप मिला मज्झिमनिकाय, (1/164, दीघनिकाय 3/223)। विनय के ग्रन्थों से ज्ञात होता हैं कि विविध सम्प्रदायों में आचार की विविधता थी उन में दो प्रकार के श्रमणो के बारे में उल्लेख मिलता हैं :- आरण्यक और विहार में रहने वाले भिक्षु परन्तु सब प्रकार के भिक्षु बुद्ध को शास्ता मानते थे और कर्मफल को स्वीकार करते थे। वे संघ में प्रवेश कर सकते थे, सीर्फ वे अचेलक नहीं रह सकते थे (वस्त्रको न धारण करने का व्रत विसुद्धिमार्ग 112 पृ०)। विनय के नियमों के साथ साथ मार्ग काभी बड़ा महत्व था, आगम से ज्ञात होता हैं कि आजीव, प्रातिमोक्ष, और अभिधर्म के सम्बन्ध में संघ में विवाद होता था किन्तु चारस्मृत्युपस्थान, चारसम्यक्प्रधान, चारऋद्धिपाद श्रद्धादिपंचेन्द्रिय, पाँचवल, सात बोध्यंग और आर्यअष्टांगिक मार्ग के विषय में मतभेद न था। भगवान आनन्द से कहते हैं जो विवाद आजीव और प्रातीमोक्ष के विषय में होता हैं वह अल्प मात्र हैं किन्तु मार्ग के विषय में विवाद उत्पन्न होता हैं तो वह बहुजन का अहित और अनर्थ करेगा (मज्झिमनिकाय 2/245) किन्तु शीतीभूत, विरक्त, वीतराग, आर्य बौद्धधर्म की देन नहीं हैं। यह योग की देन हैं। यह स्पष्ट हैं कि बौद्धधर्मका आधार योग की क्रियाएँ थी किन्तु इनका उपयोग शील और प्रज्ञा के लिए किया जो समाधि का मार्ग था जिसका लक्ष्य निर्वाणलाभ था (मज्झि 1/455, 3/28, अंगुत्तर 4/423, अभिधर्म कोश 6/43)। ऐतिहासिक काल में निकाय और सिद्धान्तों का निरोध बौद्धों की एकताको नष्ट नहीं करता अपितु सामान्य विश्वास पाया जाता हैं। यह विश्वास योग से भिन्न नहीं हैं। इसके तीन,चार प्रधान विचार हैं :- पुर्नजन्म, स्वर्गनरक, की कल्पना, पुण्य-अपुण्य, मोक्षपरम और आत्यान्तिकमोक्ष तथा मार्ग। विश्वास एवं सिद्धान्तों में भेद करना तर्क संगत हैं। बौद्धों का विश्वास है कि सव्व (प्राणी) अनेक जन्मों में संसरण कर अपने कर्मों के फल का भोग करता हैं और अभिसमय द्वारा मुक्त होता है। बौद्ध विश्वास की यह मूल भित्ति हैं। इसमें दार्शनिक विश्वास जोड़े गये हैं। इस में कुछ विश्वास को आघात पहूँचाने वाले हैं किन्तु विश्वास अड़िग होता हैं।

बौद्धधर्म ने पुनर्जन्म और कर्मफल के वाद को योग से लिया हैं। इस में कुशल, अकुशल स्वभाव और बुद्धि पूर्वक किये गये कर्म की महत्ता पर जोर दिया गया हैं। मौन, व्रत, स्नानादिको निरर्थक समझा गया हैं। बौद्धधर्म का मानना हैं, कि 'धम्मपद' - कर्म ही गृह कारक हैं। कर्म और इसके फल का निषेध करना मिथ्यादृष्टि हैं। बौद्धधर्म ने विवेचनात्मक मनो विज्ञान का आश्रय लिया हैं। इनके अनुसार आत्मा, शरीर, वेदना, संज्ञा-संस्कार विज्ञानात्मक हैं। यह नित्यधर्म नहीं

हैं। वह आत्मा के धर्मों का नैरात्म्य और उनकी शुन्यता मानता हैं। 'मन' आत्मा नहीं है, मन आत्माका नहीं है। इसका तत्पर्य यह नहीं की आत्माका अस्तित्व नहीं हैं, यह केवल इस बात का ध्योतक हैं कि आत्मा मनके परे हैं। (संयुक्तनिकाय : 3/33, 4/82/) - उपनिषद् के अनुसार आत्मा नित्य एवं लोकात्तर हैं। बौद्धधर्म आत्मा का प्रतिषेध कारता हैं, यह अपवादिका बुद्धि कर्म, कर्मफल, और प्रतिसन्धि (जन्म) की बुद्धि का विनाश करती हैं।

"पुद्गल" का निर्वचन स्वष्ट नहीं हैं। जैनागम में (जीव) "पुद्गलास्तिकाय" नाम की संज्ञा हैं, इसका अर्थ 'आजीव' हैं। बौद्धों में आत्मा के लिए पुरूष, जीव, सव्व, पोष, जन्तु, यक्ष और पुद्गल मिलती हैं। सुत्तनिपात-874/ पुद्गल का चीनी अनुवाद 'पुरूष' हैं।

'पूयते, गलतिचेति पुद्गल' : इति वुत्तक 24 में कहा है कि पुद्गल के विविधभवों की सब अस्थियाँ एकत्र की जाय तो उनका एक पर्वत हो जायेगा। भारहार सूत्र के अनुसार पाँचस्कन्ध भार हैं और पुद्गलभार हारक हैं। इसका निक्षेप तृष्णाका सर्वथा क्षय हैं। संयुक्त 3/5/22/23 तथा उध्योतकार कृत न्यायवार्तिक 342/ संक्षेप में पुद्गल कर्म का सम्पादन करता हैं, संसरण करता हैं। अपने कर्मो को भोगता हैं और निर्वाण का लाभी होता हैं। अत: पद्गल एक वस्तुसत् है, एक द्रव्य हैं किन्तु इसका स्कन्धों से सम्बन्ध अनिर्वचनीय हैं अत: यह न नित्य हैं न अनित्य।

जिसे लोक में आत्मा आदि कहते हैं, वह एक सन्तान 'सन्तति' हैं, जिसके अंगो का हेतु फल सम्बन्ध हैं। यह आत्मा का अपवाद हैं किन्तु आत्मा जीवित हैं परन्तु वह एक नित्यद्रव्य नहीं हैं। आत्मा का यह समाधान प्राय: मान्य हैं। किन्तु सन्तति का निर्देश भिन्न प्रकार से किया जाता हैं। यह बौद्ध धर्म की विचित्रता हैं कि आगम, कर्म और कर्मफल को स्वीकार करता हैं। किन्तु कारक का प्रतिषेध करता हैं। कोई सत्व नहीं है जिसका संचार संक्रान्ति हो किन्तु यह सन्तति जीवित हैं। मृत्यु से इसका कोई उच्छेद नहीं होता। मृत्यु केवल उस क्षण को सूचित करती है जब नई परिस्थितियों में नवीन कर्म समूह का प्रारम्भ होता हैं। इस से यह प्रतित होता हैं, कि सन्तति स्वतन्त्र हैं, अपने कर्म और अपनी इच्छाओं के वश इसकी प्रवृत्ति होती हैं। यह स्वष्ट हैं, कि अपवादिका दृष्टि एक विशेष प्रकार की हैं। यह अवयवों को देखती हैं, अवयवी को नहीं। यह केवल धर्मो की सत्ता स्वीकार करती हैं धर्मो को नहीं। कोई नित्य आत्मा नहीं हैं। शरीर को आत्मा अवधारित करना मूढता नहीं हैं क्यों कि उसका दीर्घकालीन अवस्थान होता हैं किन्तु जो प्रतिक्षण विसदृश होता हैं कैसे आत्मा हो सकता हैं?

आत्मा की प्रतिज्ञा करना भूल हैं, सन्तति का उल्लेख करना चाहिये। संक्रान्ति का उल्लेख कारना भूल हैं, मरणचित्त प्रतिसन्धि चित्तका उत्पाद करता हैं, "विज्ञान का अस्तित्व हैं किन्तु विज्ञान नहीं जानता"। यह एक वाक् चातुरी का पहेली हैं। एक सुत्रान्त में कहा हैं कि बुद्ध सर्वज्ञ हैं, क्यों कि जिस सन्तति की संज्ञा बुद्ध हैं, उसका यह सामर्थ हैं, कि चित्त के आभोग मात्र से इस सन्तति में प्रत्येक विषय की यथाभूत प्रज्ञा उपस्थित होती हैं। जिस सन्तति की कल्पना बौद्ध करते हैं, उस में आत्मा के सब सामर्थ पाये जाते हैं।

निर्वाण पर विचार :- बुद्ध अभिज्ञाओं के बिना आर्यत्व को सम्भव नहीं मानते किन्तु यथार्थ

भिक्षु अध्रुव में ध्रुव (नित्य) का अन्वेषण करता हैं। मोक्ष की एक अति प्राचीन और लाक्षणिक संज्ञा अमृत है। मोक्ष संज्ञा निश्चित थी। यह 'चेतोविमुक्ति' हैं (चित्त संस्कारों से मुक्त)। मृत्यु पर विजय प्राप्त कर के ही 'बुद्ध' 'बुद्ध' हुए हैं।बुद्धत्व प्राप्त करने के अनन्तर जो पहला उद्‌गार था वह यह था कि उन्होंने 'अमृत' का लाभ किया हैं (मज्झिमनिकाय 1/172, महावग्ग, 1/6/92)। उपनिषदों में अमृत का निर्देश हैं और वह उसे 'ब्रह्म' के नाम से संकीर्त्रित करते हैं। बौद्ध धर्म में ब्रह्मा की उपेक्षा की गई हैं किन्तु उसकी प्रतिज्ञा हैं, कि 'अमृत' हैं। इस अमृत को निर्वाण, निरोध, परममोक्ष, विराग कहते हैं।

बौद्धधर्म में श्रामण्य का आख्या 'ब्रह्मचर्य' हैं, और आर्य समापत्ति को 'ब्रह्मविहार' कहते हैं। भिक्षु के लिए सब से बड़ा दण्ड 'ब्रह्मदण्ड' हैं। 'श्रामण्य' - ब्राह्मण्य हैं। आर्य की संज्ञाएँ हैं ब्राह्मण, वेदगु, श्रोत्रिय और स्नातक हैं। किन्तु बौद्ध उपनिषदों के आत्मा और ब्रह्माकी उपेक्षा करते हैं। वह वेदान्त वर्णितयोग का उल्लेख नहीं करते जो ईश्वर में जीवात्मा के लीन होने कि प्रक्रिया हैं।

बौद्धों के निर्वाण की कल्पना ब्राह्मणों की किसी कल्पना का प्रति पक्ष थी इसका प्रमाण नहीं है। निर्वाण एक अदृशस्थान हैं, जहाँ आर्यतिरोहित (लिन) हो जाते हैं। उनको उदान में (8/10, उदानवर्ग 30/26 में "अचलंपदं'' कहा हैं। (अभिधर्म कोश 4/229) - बुद्ध कहते हैं कि जैसे हम यह नहीं जानते कि निर्वापित (वुझजाना) - अग्नि कहाँ जाती हैं, उसी प्रकार हम नहीं कह सकते कि वह विमुक्त आर्य कहाँ जाते हैं, जिन्होंने तुष्णारूपी ओघ का समति क्रम किया हैं और जिन्होने अकोप्य (क्रोधरहीत) क्षेम का लाभ किया हैं। निर्वापित होने पर अग्नि अदृश हो जाती हैं। इसी प्राकर परिनिवृत्त आर्य, जीव, पुद्‌गल चित्त नहीं रह जाता। भव के समस्त आकार कल्पनाओं का अतिक्रमण करना ही मोक्ष हैं। यह अभाव नहीं हैं।

यहाँ अर्हत् के वाक्य विचारणीय हैं जैसे - "मेरे लिए जाति (जन्म) नहीं हैं, मैं ने अपना कर्त्तव्य सम्पन्न किया अब और करणीय नहीं हैं अब यहाँ मेरे पुनः आगमन का कोई कारण नहीं है अतः निर्वाणसर्व श्रेष्ठ सुख है''। किन्तु उदायी पूछता हैं कि निर्वाण में सुख कैसे है? क्यों कि वहाँ वेदना का अभाव हैं। शारिपुत्र उत्तर देते हैं कि निर्वाण सुख वेदना का अभाव नहीं हैं। (अंगुत्तर निकाय 4/414) इस से अनुमान होता हैं कि निर्वाण अचेतन अवस्था हैं जहाँ वेदना का अभाव हैं किन्तु पुद्‌गल और सुख क्या हैं? यह समझना कठिन हैं। अवाच्य का लक्षण नहीं बताया जा सकता। कहा जाता हैं कि संज्ञावेदित निरोध 'निर्वाण' सदृश है। जो निकाय 'आत्मा' या 'प्रमाश्वर चित्त' स्वीकार करते हैं, वह उसे चैतसिक धर्मो का आश्रय मानते हैं और अमृत तथा ईश्वर की संज्ञाओं को परस्पर सम्बद्ध करते हैं। पुद्‌गलवादी (जीवात्मवादी) मानते हैं कि आत्मा एक भव से भवान्तर में संक्रमण करता हैं और निर्वाण प्राप्त कर धर्मो के रूप में विध्यमान रह सकता हैं।

भव्य के अनुसार निर्वाण धर्म हैं और न उस से भिन्न हैं। विज्ञानवाद ग्राह्यग्राहक कल्पना से क्लिष्ट विशिष्ट चित्तों से भिन्न एक विसुद्ध प्रमाश्वर चित्त मानता है। हीनयान में इस मत का पूर्वरूप हैं। अगुत्तर 1/10, अभिधर्म कोश, 6/77, द्रीधनिकाय, 1/73, बुद्धघोष, अट्ठसालिनी,

पृ 140। पुद्गलवादी निकाय, चार महा सांघिक निकाय, एक व्यवहारिक, लोकात्तरवादी कुक्कुटीक इस विभज्यवादी निर्वाण की कल्पना को मानते हैं। नैरात्म्य को मानते हुए सन्तति के नैरन्तर्य में विश्वास किया जा सकता हैं। आर्य दग्ध बीज के सदृश अक्लिष्ट एवं बन्ध्य चित्त का उत्पाद के सन्तति का उच्छेद करता हैं। प्रशस्तपादभाष्य में कहा हैं :- "अत्यन्त मुच्छिध्यते सन्ततित्वाद्दीपसन्ततिवत्''। मज्झिमनिकाय में :- नकत्थचि उप्पज्जति न कुहिंचि उप्पज्जति, 3/103।

बौद्धों के दृष्टि में निर्वाण और आत्मा एक दूसरे से सम्बद्ध नहीं हैं। (क) सौत्रान्तिक निर्वाण को अभाव मानते हैं, (ख) बैभाषिक उसे द्रव्यसत् (वस्तु) मानते हैं। सौत्रान्तिक का मत हैं कि निर्वाण हेतु फल परम्परा का उच्छेद हैं। बैभाषिक इस उच्छेद का हेतु निर्वाण का प्रतिलाभ हैं। बैभाषिकों के अनुसार निर्वाण में प्रतिसन्धि और मृत्यु का सर्वथा निरोध हैं, निर्वाण अजात और अविपरिणामी हैं। यह क्लेश दुःख और भवका निरोध करने वाला सेतु हैं। चित्त का निरोध ही निर्वाण हैं और यही मोक्ष हैं। (संघभद्र अभिधर्म कोश 5/8) किन्तु यह कहना कि इसका अस्तित्व हैं और न यह कह सकते हैं कि नहीं हैं। जन्म में अमृत का सुख होता हैं अंगुत्तरनिकाय 2/206, मज्झिमनिकाय, 1/341, अभिधर्मकोश अ/12। में वह विमुक्त हैं, - निवृत्त हैं इत्यादि कहा गया हैं।

जिस क्षण में प्रज्ञा का उत्पाद होता हैं, उसक्षण में निर्वाण का साक्षात्कार होता हैं, मज्झिम 1/510, अंगुत्रर 1/149, "निब्बानं पच्चत्तं वेदितब्बं विञ्ञूहिति''। आर्य ही निर्वाण का दर्शन करता हैं। अमिधर्मवोश, 1/101,2/110,112,116 ।"बौद्ध कहते हैं रागके प्रहाण से अमृततत्व का साक्षात् कार होता हैं, संयुक्त 5/181 अंगुत्रर 4/454, ज्ञान के द्वारा क्लेशक्षीण की अवस्था को "बौद्ध'' दृष्टधर्म निर्वाण कहते हैं, अंगुत्तर 4/454।

निर्वाण की प्राप्ती जो सर्व क्लेश और अपूर्व भव को अनुत्पत्ति धर्मा बनाती हैं। यह सोपधिशेष निर्वाण हैं। निर्वाण-प्राप्ति का ज्ञान का लाभध्यान में होता हैं। यह सुख हैं जो इस लोक का अग्र निर्वाण हैं। संज्ञा वेदित निरोध की प्राप्ति। इसका संवेदन काय से होता हैं, जो चरम चित्त में निर्वाण का प्रवेश ही निरूपधिशेष निर्वाण हैं। निर्वाण का प्रश्न स्थापनीय नहीं हैं किन्तु निवृत्त आर्य का प्रश्नस्थापनीय हैं। निर्वाण हैं किन्तु यह क्या हैं? इस का उत्तर नहीं हैं। निर्वाण है किन्तु उसका स्वरूप हम क्या सम्झते हैं? क्या हम यह कह सकते हैं कि मुक्तावास्था का अस्तित्व कहाँ हैं? क्या यह कहना अधिक ठीक होगा कि इसका अस्तित्व नहीं हैं, अथवा क्या हम यह कह सकते हैं कि यह हैं भी और नहीं भी हैं या इन में से कुछ भी नहीं कह सकते? इन प्रश्नों का उत्तर 'बुद्ध' ने नहीं दिया हैं।

निर्वाण हैं, किन्तु वह अनाख्यात हैं। "तथागत'' के सम्बन्ध में प्रज्ञप्ति नहीं हो सकती कि वह रूपादि हैं। इन प्रज्ञप्तियों से वह विनिर्मुक्त हैं। वह महोदधिके सदृश गम्भीर और अप्रमेय हैं। उसके लिए यह कहना कि वह हैं वह नहीं हैं उचित प्रतीत नहीं होता, संयुक्त 4/374। क्यों कि वह गम्भीर, उप्रमेय, असंख्य हैं, उसे निवृत्र कहते हैं क्यो कि उसके राग, द्वेष और मोह क्षीण हो चूके हैं। "नेत्तिरप्पकरण''। इन वचनों से हम कह सकते हैं, कि अभिधम्मकोश 5/19,

संयुक्त 3/109 - निर्वाण का लक्षण 'आरोग्या' वस्था हैं।

पूसें के अनुसार आरम्भ में बौद्धधर्म आत्मा, पुनर्जन्म और निर्वाण में विश्वास करता था। वह दर्शन न था। वाद में धर्म नैरात्मय की भावना और मद-निर्मर्दन के लिए नैरात्म्य वाद का प्रारम्भ हुआ इसके दो रूप हुए :- पुद्गलवाद और सन्ततिवाद। किन्तु पूणर्जन्म में जो विश्वास था वह नष्ट न हो सका। सन्ततिवाद के माननेवाले निर्वाण को वस्तुसत मानतें हैं, कोई निर्वाण को क्लेश और पुनर्भव का अभाव मात्र मानते हैं जो सौत्रान्तिक और पुब्बसेलिय हैं। इनमें हमस्थविरों को भी सम्मिलित कर सकते हैं। प्रथम कोटी में विभज्यवादी, सर्वास्तिवादी, और वैभाषिक हैं। पुब्बसेलिय निर्वाण को वस्तुसत् नहीं मानते (बुद्धघोष के अनुसार) स्थविरों का भी मत हैं कि निर्वाण का अस्तित्व नहीं हैं।

सौत्रान्ति कों का कहना हैं कि जो वह हेतुप्रत्यय जनित हैं अर्थात् वह संस्कृत प्रतीत्य समुत्पन्न, हेतु प्रभव हैं। संस्कृत संस्कार भी हैं। यह अन्य संस्कृतों का उत्पाद करता हैं। हेतु-फल परम्परा के बाहर कुछभी नहीं हैं। यह परम्परा प्रवृत्ति संसार हैं। निर्वाण केवल क्लेशजन्म का अभाव हैं, क्लेशकर्मजन्मरूपी प्रवृत्ति की निवृत्ति मात्र हैं। एक शब्दों में केवल संस्कृत का अस्तित्व हैं। वे असंस्कृत का प्रत्याख्यान नहीं करते, किन्तु वह कहते हैं, कि यह कोई लोकोत्तर वस्तु सत् नहीं हैं, यह असदभूत हैं, यथा लोक में कहते हैं कि उत्पत्ति के पूर्व या निष्पत्ति के पश्चात् शब्द का अस्तित्व नहीं होता। (अभिधर्मकोश 4/2)। निर्वाण अभाव मात्र, अप्रवृत्तिमात्र अप्पवट हैं। सूत्र में निर्दिष्टलक्षण इस प्रकार हैं :- सर्वथाप्रहाण, वैराग्य, विसुद्धि, क्षय, निरोध, दुःख का अत्यन्त अनुत्पाद, अनुपादान और अप्रादुर्भाव। यह शान्त प्रणीत हैं अर्थात् सर्वोपधि का प्रत्याख्यान, तृष्णाक्षय, निर्वाण हैं (संयुक्तनिकाय 13/5, अभिर्धमकोश 2 पृष्ठ 284)।

आगम के अनुसार निर्वाण तृतीय सत्य हैं। यह दुःख का निरोध हैं अर्थात् तृष्णा का क्षय, तृष्णा का प्रत्याख्यान, तृष्णा से विमुक्ति हैं। निर्वाण का लक्षण कुछ भी क्यों न हो यह "अनुत्पाद" हैं। अभिधर्मकोश 6/4। स्थविर के अनुसार 'निर्वाण' अंगुत्तर 2/164, संघभद्रकी आलोचना के लिए अभिधर्मकोश 6/4)।

सौत्रान्तिक यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जैसे :- अग्निका निर्वाण हैं, तथा चेतो विमुत्कि हैं। अग्निका निर्वाण, अग्निका अप्रत्यय मात्र हैं, यह द्रव्यमात्र हैं, (कोश 2/55) पर सन्दर्भ से ज्ञात होता हैं कि अग्नि का निर्वाण अग्निका अभाव नहीं हैं, उदान :- 8/10, मज्झिम, 1/487, में थेरीगाथा, 115, सुत्तनिपात, 1074/ मज्झिम, 1/167 निर्वाण को - अनुत्तर - योगक्खेम, अनुत्पन्न कहा हैं। असंस्कृत को उदान, 8/3, इतिवुत्तक, 43, में अनुत्पन्न, अकत (अकृत) कहा हैं। अंगुत्तर 2/34, संयुक्त, 31/12 में सब संस्कृत और असंस्कृत वस्तुओं में वर्त्मच्छेद, तृष्णाक्षय, विराग, निर्वाण, अग्र हैं। निर्वाण अग्रधर्म, द्वितीय, रत्न, अग्रप्रसाद शरण हैं। संयुक्त के असंखतवग्ग, 4/357, में अनेक पर्यायवाची शब्द हैं। यह राग, द्वेष और मोह का क्षय हैं। मैं तुम को अन्त, अनाश्रव, सत्य, पार, निपुण, सुदुर्दर्श, अजर, ध्रुव, अनिदर्शन, निष्प्रपंच, सत्, अमृत, प्रणीत, शिव, क्षेम, आश्चर्य, अद्भूत, निर्वाण, विराग, शुद्धि, मुक्ति, अनालय, द्वीप, लेण, त्राण, परायण का निर्देश करूगाँ। निर्वाण असंस्कृत, अमृत, निरोध इन शब्दों के आगे धातु शब्द जोड़े जाते हैं। सर्वास्तिवादी

के लिए विरागधातु, प्रहाणधातु, निरोधधातु, आदि निर्वाण को प्रज्ञप्त करता हैं। निर्वाण का अर्थ चित्त की शान्ति होता हैं। 'निर्वाणधातु' केवल शाश्वत "निर्वाण" हैं। अभिसमया लंकार के अनुसार "निर्वाण" धातु कहे जाते हैं, इतिवुत्तक, 51, अंगुत्तर 4/423।

निर्वाण का सबसे मुख्य आकार 'क्षय' का हैं। वस्तुतः निर्वाण निरोध हैं। निर्वाण प्रादुर्भाव हैं। यह तुष्णा क्षय और दुःख निरोध हैं। सर्वास्तिवादी उसे प्रतिसंख्या निरोध कहते हैं। आर्य समाधि में इसका दर्शन करते हैं, यदि तत्व का साक्षात् कार केवल समाधि की अवस्था में होता हैं, तो वह वाणी का विषय नहीं हो सकता हैं "तथागत" ने इसे "निरोध" व्याकृत किया हैं। यह 'द्रव्य' हैं, 'कुशल' हैं, 'नित्य' हैं। निरोधवस्तु-सत् हैं। आचार्य मण्डनमिश्र तथा न्याय वैशेषिक मानते हैं कि निरोध केवल एक आधार हैं, निर्वाण में अन्य आकार शान्त, प्रणीत, निःसरण हैं। निरोध द्रव्य हैं, अभाव नहीं। निर्वाण रागक्षय हैं, उस क्लेश से भिन्न एक धर्म हैं, जिसका यह क्षय करता हैं, उस मार्ग से अन्य हैं, जो निर्वाण का प्रतिपादन करता हैं। अर्हत्व निर्वाण नहीं किन्तु निर्वाण का लाभ हैं। निर्वाण सुख हैं, शान्त हैं, प्रणीत हैं। जो उसे दुःख वत देखता हैं, उसके लिए मोक्ष संभव नहीं (अंगुत्तर 4/442, अभिधर्मकोश, 7/13) में इन का वर्णन हैं। मिलिन्द प्रश्न में हैं कि निर्वाणधातु 'अत्थिधम्म' (अस्तिधर्म), एकान्त सुख, अप्रतिभाग हैं। मिलिन्द पुनः कहते हैं कि उसका लक्षण 'स्वरूपः' नहीं बताया जा सकता, किन्तु 'गुणत': दृष्टान्त के रूप में कुछ कहा जा सकता हैं, यथा - जल पिपासा को शान्त (निब्बापन) करता हैं, उसी प्रकार निर्वाण त्रिविध तृष्णा का निरोध करता हैं।

"तपो य ब्रह्मचरियञ्च अरिय सञ्चानदस्सनं।
निब्बान सच्छिकिरिया च एतं मङ्गलमुत्तमं"।। - सुत्तनिपात-मंगलसुत्त।

"तप - साधन करना, ब्रह्मचर्य पालन करना -
चारआर्य सत्यों का दर्शन करना और निर्वाण का साक्षात्कार करना ये उत्तम मङ्गल हैं।
"दुक्खञ्चेव पञ्चापेमि दुम्खस्स निरोधं" - मज्झिम निकाय।

"निर्वाण" बौद्ध धर्म का लक्ष्य हैं। भगवान् ने कहा हैं कि जिस प्रकार समुद्र का रस एकमात्र लवण रस हैं, उसी प्रकार मेरी शिक्षा का एकमात्र रस निर्वाण हैं। भगवान् की समस्त शिक्षा निर्वाण-प्रापक हैं। इस विषय में क्रमागत आम्नाय को अधिक प्रमाणिक मानते हैं।

खीणं पुराणं नव नत्थि सम्भवं,
विरत्तचित्तायतिके भवस्मिं।
ते खीण बीजा अविरूल्हिछन्दा,
निब्बन्ति धीरा यथायं पदीपो।। सुत्रनिपात - 238

"जिनके सारे पुराने कर्म क्षीण हो गये हैं और नये कर्मों की उत्पत्ति होती नहीं, पुनर्जन्म के प्रति जिनकी आसक्ति समाप्त हो गयी हैं, वे क्षीण-बीज (अरहंत) तृष्णा विमुक्त हो गये हैं। वे इसी प्रकार "निर्वाण" को प्राप्त होते हैं जैसे कि तेल समाप्त होने पर प्रदीप।"

जिस समय तथागत निर्वाण मार्ग में प्रवेश कर रहे थे - कुशीनारा (वर्तमानकुशीनगर)

में तब उनका अन्तिम उद्‌गार :- भगवान् ने भिक्षुओं को आमंत्रित किया :- "हन्त! भिक्षुओं अब तुम्हे कहता हूँ :- संस्कार (कृतवस्तु) व्ययधर्मा (नाशवान) हैं; अप्रभाद के साथ (आलस न कर) जीवन के लक्ष्य को संपादन करो'' - यह "तथागत'' का अन्तिम वचन हैं।

"अथ खो भगवा-भिकखू आमन्तेसि :- हन्द दानि भिक्ख वे, आमन्तयामि वो, वयधम्मा सख्डारा, अप्पमादेन सम्पादेथा 'ति'। अयं "तथागतस्स'' पच्छिमावाचा। दीधनिकाय - महापरि निब्बानसुत्तं - 235

और उनका कथन हैं, कि :- मैं केवल दुःख और दुःख-निरोध का ही प्रज्ञापन करता हूँ।

"दुम्खञ्चेव पञ्ञापेमि दुम्खस्सनिरोधं।'' - मज्झिमनिकाय।

ये धर्मा हेतुं प्रभवा हेतुस्तेषां तथागतोह्यवदत्।
तेषां यो निरोध एवं वादी महाश्रमणः।।

-'भिवतुसब्बमंगलम्'।

"इति''

BIBLIOGRAPHY AND NOTES ON METAPHISICAL AND PHYLOSOPHICAL TERMS

विशिष्ट बौद्ध दार्शनिक शब्दों का सूची

त्रिवर्ग-साधक - अर्थ धर्म और काम की प्रप्ति कराने वाली।

1 - प्रतीत्यसमुत्पाद - संक्षेप में कार्य कारण के सिद्धान्त को ही प्रतित्यसमुत्पाद कहते हैं। यह हेतु फल परम्परा हैं। इस को प्रत्याकार निदान भी कहते हैं। इस भव चक्र के तीन अध्व या मार्ग हैं। (1) अतीतयापूर्वभाव। (2) अनागत या अपरभाव (3) वर्त्तमान या प्रत्युत्पन्नभव। यह द्वादशाकारचक्र भी कहा जाता हैं।

1 - अविध्या - इस जीवन में जितने क्लेश हैं, वे जन्मके पूर्व अविध्या के रूप में रहतें हैं। अविध्या पूर्व जन्म की क्लेश दशा हैं। जितने क्लेश या दु:ख हैं सब अविध्या के सहचारी हैं। पंच स्कन्धों की पूर्वजन्म सन्तति अविध्या हैं।

2 - संस्कार - जीवन के पुण्यापुण्य कर्मों की पूर्वदशा या पूर्व जन्म कें अस्तित्व संस्कार कहलाते हैं। संस्कार पूर्व जन्म की कर्मवस्था हैं। अविध्या और संस्कार वर्त्तमान जीवन के लिए आलम्बन या प्रतिष्ठा का कार्य करते हैं। दोनों में एक के अभाव में वर्त्तमान भव नहीं हो सकता।

3 - विज्ञान - इस जन्म के लिए रूप-वेदना-संज्ञा-संस्कार-विज्ञान का जो बीजारोपण हैं, वही विज्ञान हैं। यह पंच स्मन्धों की योनिगत पूर्वावस्था हैं। यह अवस्था विज्ञान या मन रूप हैं जो सूक्ष्म होते हुए स्थूल को अपने में अर्न्तलीन रखती हैं। चित्तया मन ही विज्ञान हैं।

4 - नामरूप - जन्मसे पूर्व जो गर्भित दशा में पंचस्कन्धों की संवृद्धि हैं, वह नाम रूप अवस्था हैं। विज्ञान क्षण से षडायतन या स्थूल देह की उत्पत्ति के क्षण की अवस्था नाम रूप हैं।

5 - षडायतन - मन और पाँच इन्द्रियों वाला स्थूल शरीर षड़ायतन हैं।

6 - स्पर्श - सुख-दु:खात्मक अनुभव वेदना हैं। मन सहित ज्ञानेन्द्रियाँ उनके विषय और विषयों से इन्द्रिय द्वारा उत्पन्न ज्ञान इन तीनों के एकत्र होने पर स्पर्श उत्पन्न होता हैं।

7 - वेदना - सुख-दु:ख की अनुभूति का नामवेदना हैं। यावत् मैथुन राग का समुदाचार नहीं होता, तब तक की अवस्था वेदना हैं।

8 - तृष्णा - रूपादि कामगुण एवं मैथुन के प्रति राग और भोग की कामना तृष्णा हैं।

9 - उपादान - भोगों की सम्प्राप्ति के लिए पुद्गल का सक्रिय प्रयत्न उपादान हैं। इस अवस्था को उपादान कहते हैं, जिस में चतुर्विध क्लेशों का समुदाचार होता हैं।

10 - भव - स्कन्धोंके बिखर जाने पर फिर समुहन होने की शक्ति भव हैं। गर्भावस्था से पहले पाँच स्मन्धों की जिस अवस्था को अविध्या और संस्कार कहा गया हैं, संसारिक वर्त्तमान जन्म में जिसे तृष्णा और उपादान कहा जाता हैं, अनागत या आनेवाले जीवन में वही भव हैं।

11 - जाति - मरण के अनन्तर प्रति सन्धि काल में पाँचो स्कन्धों के जो अवस्था होती हैं, उसे जाति वहा जाता हैं। गर्भ के आरम्भ में जो विज्ञान हैं, वही अनागत अवस्था में जाती हैं।

12 - जरामरण - वर्त्तमान भव के चार अंग - नामरूप, षडायतन स्पर्श और वेदना - अनागत - भव के सम्बन्ध में जरा-मरण कहलाते हैं।

पंचस्कन्ध - रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये पाँच स्कन्ध हैं।

आगम - त्रिपिटक हैं। (सूत्र विनय और अभिधर्म)

अधिगम - अधिगमउन धर्मो की संज्ञा हैं, जिनके आचार में परिगृहीत करने और साक्षात्कार से बोधिकी प्राप्ति होती हैं आगम शास्त्रों के रूप में एवं अधिगम आचारवान् धर्म के साक्षात्कर्त्ता बुद्धों के रूप में लोक में सुरक्षित रहता हैं।

धर्म - धर्म वह हैं जो स्वणक्षणधारण करता हैं। (मध्यमकवृत्ति, 457 सिद्धि 4, 568)

इन्द्रिय - 'इदि' धातु का अर्थ परमैश्वर्य हैं (धातुपाठ 164)। जिसको परमैश्वर्य की प्रवृत्ति होती हैं, वह इन्द्रिय कहलाता हैं।
अत : सामान्यत; इन्द्रिय का अर्थ अधिपति हैं।

चित्त - चित्त से लोक उपनित होता हैं, चित्त से परिकृष्ट होता हैं। सब धर्म इस एक धर्म चित्त वशानुवर्ती हैं

चित्तेन नीयते लोक श्चित्तेन परिकृष्यते
एक धर्मस्य चित्तस्य सर्वेधर्मा वशानुगा:।। व्या 95,22, संयुक्त 1:39

नैष्क्रम्य - "अनास्त्रवया सास्त्रवमार्ग'' अथवा 'निष्क्रमण' अथवा धातुया संसार से वैराग्य'' - मज्झिम 3.218, संयुक्त 232 मिलिन्द 45

चैत्त - चित्त-चैत्त का अवश्य सहोत्वाद होता हैं। चित्त और चैत्त एक दूसरे के बिना उत्पन्न नहीं होते। संस्कृत लक्षणों के साथ उत्पन्न होते हैं।
चत्ति चैत्ता : सहावश्यम् (व्या 127:3) चित्त मनस् = विज्ञान
चैत्त = चैतस = चैतसिक = चित्त संम्प्रयुक्त । सर्वम् संस्कृत लक्षणै :

क्लेश - कामराग, रूपराग, प्रतिघ, विचिकित्सा (कोश 5.1) व्या 127:7)

दृष्टि - सत्कायदृष्टि, अन्तग्राहदृष्टि, मिथ्यादृष्टि, दृष्टिपरामर्श - शीलव्रतपरामर्श (5.3) कोश

संस्पर्श - प्रतिघ, अधिवचन, विघ्या, अविघ्या, नैवविघ्यानाविघ्यासंस्पर्श

इन्द्रिय - सुखेन्द्रिय, दु:खेन्द्रिय, सौमनस्येन्द्रिय, दौर्मनस्येन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय।

धर्म - वितर्क, विचार, विज्ञान, आहीक्य अनपत्राप्य (कोश 2.27)

विज्ञानकाय - चक्षुविज्ञान, मनोविज्ञान,

स्पर्शकाय - चक्षु : संस्पर्श, मन:संस्पर्श

वेदनाकाय - चक्षु:संस्पर्शजवेदना

संज्ञाकाय - चक्षु:संस्पर्शजसंज्ञा

चेतनाकाय - चक्षु:संस्पर्शजचेतना

तृष्णाकाय - यक्षु:संस्पर्शजतृष्णा

भूमि - भूमि का अर्थ गतिविषय (उत्पत्तिविषय) हैं। एक धर्म का उत्पत्ति-स्थान उसधर्म की भूमि हैं।

महाभूमि - नाम इसलिए पड़ा क्योंकि यह महान धर्मों की भूमि, उत्पत्ति विषय हैं। महाभूमि में जो धर्म सहज हैं, वह महाभूमि कहलाता हैं अर्थात् यह वह धर्म हैं जो सर्वचित्त में सदा होता हैं।

महाभूमिककौम्ना - वेदना, चेतना, संज्ञा, छन्द, स्पर्श, मति, स्मृति, मनस्कार अधिमोक्ष और समाधि सर्वचित्त में सहवर्तमान होते हैं।

वेदनात्रिविधअनुभव हैं - सुखा, दु:खा, अदु:खा सुखा।

चेतना - वह हैं जो चित्त का अभि संस्कार, चित्तका प्रस्यन्द करती हैं। 1.15.4.1.

संज्ञा - संज्ञान हैं जो विषय निमित्त (पुरूष, स्त्री आदि) का ग्रहण करता हैं

छन्द - कार्य की इच्छा।

स्पर्श - इन्द्रिय, विषय और विज्ञान के सन्निपात से संजात स्पृष्टि हैं। यह वह धर्म हैं जिसके योग से इन्द्रिय, विषय और विज्ञान अन्योन्य का मानो स्पर्श करते हैं।

प्रज्ञा - जिसे कारिका में मति कहा गया हैं धर्मों का प्रविचय हैं।

स्मृति - आलम्बन का असंप्रमोष हैं। यह वह धर्म हैं जिस के योग से मन आलम्बन को विस्मृत नहीं करता, जिसके योग से मानो यह उसकी अभिलाषा करता हैं। अभिलषतीव (व्य 1.127.33)

ननस्कार - चित्त का आमोग हैं। मनस:कार:अथवा मन:करोति आवर्जयति (व्या 128.1) चेतस अभोग आलम्बने चित्तधारण धर्मक : (अभिसमय)

अधिमुक्ति - आलम्बन के गुणों का अवधारण हैं। अधिमुक्ति वह धर्म हैं जिसके योग से चित्त आलम्बन में बिना बाधा के अपने प्रभुत्व का प्रयोग करता हैं।

समाधि - समाधिचित्तकी एकाग्रता हैं। यह वह धर्म हैं जिस के योग से चित्त प्रबन्धेन आलम्बन में एकत्र वर्त्तमान होता हैं।

अष्टाङ्गिक मार्ग - बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट मार्ग जिसके (1) सम्यक् दृष्टि (2) सम्यक् संकल्प (3) सम्यक्वाचा आदि आठ अंग होते हैं।

संस्कृतधर्म - का लक्षण - जाति, जरा, स्थिति, अनित्यता। जिस धर्म में यह लक्षण पाये जाते है, वह संस्कृत हैं, जिस में यह नहीं पाये जाते वह असंस्कृत हैं।

असंस्कृत - असंस्कृत कारण हेतु हैं क्यों कि धर्मों की उत्पत्ति के प्रति इसका अनावरण भाव हैं, किन्तु इसका फल नहीं हैं। क्यों कि अध्व विनिर्मुक्त होने से यह फल के प्रति ग्रहण और दान में असमर्थ हैं। सूत्त- वचन हैं कि इस असंस्कृत आलम्बन प्रत्यय हैं।

आर्यसत्य - आर्यों - विद्वानों के द्वारा ज्ञेय सत्य जो संख्या में चार हैं इन्हीं के ज्ञान के द्वारा ही गौतम को बोधि या बुद्धत्व प्राप्त हुआ।

1 - अलं वकूलि किं ते पुतिकायेन दिट्ठेन। यो खो वकूलिधम्मं पस्सति सोमं पस्सति। यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति।

(वक्कलिसुत्र - 22.86.94. पृ 341)

2 - "भगवा अनुप्पन्नस्स मग्गस्स उप्पादेता, असञ्जातस्स मग्गस्स सञ्जनेता, अक्खातस्स मग्गस्स अक्खाता,मग्गन्नू, मग्गविद् मग्गकोविदो'' -

खुद्धकमनिकायभाग 4 (1) महामिद्धेस 1/16/192
पृष्ठ - 399, विसुद्धिमग्ग, 7/52

3 - "भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो, विज्जायरणसम्पन्नो, सुगतो, लोकविदू, अनुत्तरो पुरिसो धम्मसारथि सत्थादेव मनुससानं बुद्धो भगवा''। दीघनिकाय 3/7/264,87 अंगुत्तरनिकाय एवं विसुद्दिमग्ग।

4 - "सुखोबुद्धानमुप्पादो'' बुद्धों का उत्पन्न होना सुखकारी हैं।

5 - 'बुद्धोति केनट्ठेन बुद्धो? बुज्झिता सच्चानी ति बुद्धो बोधेता पजायाति बुद्धो सब्बञ्ञुताय बुद्धो, सब्बदस्साविताय बुद्धो, अभिञ्ञेय्युताय बुद्धो विकासिताय बुद्धो वीणासख्सङ्खातेन बुद्धो, एकन्तवीतरागो ति बुद्धो, एकन्तवीत दोसो ति बुद्धो, एकन्तवीतमाहो ति बुद्धो, एकन्तनिक्किलेसो ति बुद्धो, एकायनमग्गं गतो ति बुद्धो, एको अनुत्तरा धम्मा सम्बोधिं अभिसम्बुद्धो ति बुद्धो, अबुद्धि विहतता, बुद्धिपटिलाभाति बुद्धो।'
खुद्दमनिकाय भाग 4 (2) चक्लनिद्धेस, पृ 208-209।

6 - बुद्ध - 'बुद्धो ति नेतं मातरा कतं, नपितराकतं, नभातरा कतं, नभगनियाकतं, नमित्तामच्चेहि कतं, न ञातिसालोहितेहिकतं, न समण ब्राह्मणेहिकतं, न देवताहिकतं। विमोक्खन्तिकमेतं बुद्धानं - भगवन्तानं बोधियामूले सह सब्ब ञ्ञुतञ्ञणस्स - पटिलाभा सच्छिका पञ्ञत्ति यदिदं बुद्धोति - तं बुद्धं'।
खुद्धकनिकाय भाग 4 (1) महानिद्धेस - 16/192 पृष्ठ 399, चुक्लनिद्धेस पृ 209।

7 - "बोधिचित्तं हि कुलपुत्र बीजभूतं सर्वबुद्धधर्माणाम्''
आर्यगण्डव्यूहसूत्र में भगवान अजित ने कहा हैं कि बोधिचित्त ही सब बुद्ध धर्मो का बीज हैं।
(क) अर्हत् - वे बुद्ध के उपदेशों से प्रेरित हो कर साधना करते हैं, और तृष्णा का उच्छेद कर दुःख विमुक्त हो अर्हत पद प्राप्त करते हैं और अन्त में निर्वाण प्राप्त करते हैं। अर्हत पदके साधक का लक्ष्य स्वयं की मुक्ति प्राप्त करना होता हैं, दूसरे प्राणियों के दुःख दूर करने के लिए

वह कोई भी प्रयत्न नहीं करता हैं न ही लोक-कल्याण के लिए उपदेश ही देता है। अर्हत अवस्था को प्राप्त करने के बाद भी साधन संध में ही रहता हैं। संघीय अनुसासन में रह कर साधना करते हुए अन्त में निर्वाण प्राप्त करता हैं।

(ख) प्रत्येकबुद्ध - प्रत्येक- बुद्ध को मौन बुद्ध की साज्ञा भी दी जा सकती हैं क्योकि चुल्ल निद्देश में कहा गया हैं कि ऐसे बुद्ध अनाचार्य का भाव से प्रत्येक सम्बोधि को प्राप्त करने के बाद भी धर्मोपदेश नहीं करते हैं। वे स्वयं मुक्त होते हैं पर धर्म शासन की स्थापना नहीं करते हैं।

(ग) सम्यक्सम्बुद्धयाबुद्ध - अर्हत् और प्रत्येक बुद्ध की अपेक्षा बुद्ध या सम्यक् सम्बुद्ध का आदर्श श्रेष्ठ होता हैं। क्योकि वे अनुत्तर - सम्यक् - सम्बोधि प्राप्त कर विश्वकल्याण की भावना रखते हैं। वे अनन्त ज्ञान और करूणा के भण्डार हैं। सम्पक्-स्मबुद्ध या बोधिसत्वका लक्ष्य स्व दु:ख की निवृत्ति न हो कर परार्थभावना या निरन्तर जीवन सेवा करना हैं। उसकी इस लोकानुकम्पा की भावना का उल्लेख हमें पालिनिकाय से लेकर परवर्ती महायान साहित्य तक सभी में मिलता हैं।
खुद्धकनिकाय - भाग 4 (2) चुल्लनिद्धेश - (3.8.1. पृष्ठ 246)

(1) सहजकाय - सहजकाय ही परमार्थत : सत्य हैं। यह शून्यता के ज्ञान होने से विशद्ध हैं। यह अक्षर तथा महासुख रूप हैं। करूणा का उदय इसी काय में हैं। अत: वह ज्ञानवज्र कहा गया हैं। यही विशुद्धयोग हैं।

(2) धर्मकाय - बुद्ध का परमार्थभूत शरीर। यह काय अनन्त अपरिमेय, सर्वत्रव्यापक तथा शब्दत : अनिर्वचनीय होता हैं। सब बुद्धों के लिए एक ही होता हैं तथा दुर्ज्ञेय होने से अत्यन्त सूक्ष्म होता हैं। सम्भोबकाय का यही आधार होता हैं। वेदान्त के ब्रह्मा का प्रतिनिधि।

(3) सम्भोगकाय - सम्भोगकाय सवप्र की दशा का सूचक हैं। इसमें अक्षय अनाहत ध्वनि का उदय होता हैं। इसे वाग्वज्र तथा मन्त्रयोग कहते हैं। इसी काय के द्वारा आदिबुद्ध धर्म तत्वों की शिक्षा प्रदान करते हैं।

(4) निर्माणकाय - धर्मोपदेश तथा शिक्षा के निमित्त बुद्ध के द्वारा धारण किया गया शरीर। निर्माणकाय कर्मों से उत्पन्न नहीं होता तथा संख्या में अनन्त होता हैं। तथागत इसी काय को उत्पन्न कर अपने समग्र कार्य तथा शील, समाधि आदि का उपदेश देते हैं। इस प्रकार निर्माण काय का कार्य परोपकार साधन करना हैं।

1- स्त्रोतापन्नभूमि - 'स्त्रोतापन्न' का शब्दिक अर्थ हैं धारा में पड़ने वाला, अर्थात् जब साधक निर्माण मार्ग के प्रवाह में प्रवाहित होने लगता हैं तब वह स्त्रोता पन्न कहलाता हैं। अर्थात्

साधक के हृदय पटल में बुद्ध, धर्म, और संघके प्रति अटुट श्रद्धा होती हैं। इस स्त्रोतापन्न अवस्था को प्राप्त साधक का आचार और विचार विशुद्ध होता हैं और वह अधिक से अधिक सात जन्मों में निर्वाण लाभ प्राप्त कर लेता हैं।

2 - स्कृदागामीभूमि - इस भूमि में साधक का मुख्य लक्ष्य आस्त्रवों (राग-द्वेष-एवं मोह) का क्षय करना होता हैं, क्यों कि स्त्रोतापन्न की अवस्था में साधक कामराग (इन्द्रियलिप्सा) और प्रतिघ (दूसरे के अनिष्ट की भावना) अशुभ-प्रवृत्तियों के क्षय का प्रयत्न अवश्य करता हैं परन्तु उसमें राग द्वेष एवं मोह रूपी आस्त्रव शेष रह जाते हैं। इनके क्षय करने का प्रयत्न ही सकृदागामी भूमी हैं।

3 - अनागामीभूमि - साधक पूर्व की दोनो भूमियों के अर्न्तगत सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रत-परामर्श, कामराग और प्रतिघ - इन पाँचो संयोजनों को नष्ट कर देता हैं, तब वह अनागामीभूमि को प्राप्त करलेता हैं। इस अवस्था को प्राप्त कर साधक मरणोंपरान्त ब्रह्मालोक में जन्म लेकर शेष पाँच संयोजकों को नष्ट कर के अन्त में निर्वाण को प्राप्त करता हैं।

4 - अर्हत-भूमि - जब साधक सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रत, परामर्श, कामराग, प्रतिघ, रूपराग, अरूपराग, मान औद्धत्य और अविघ्या इन दसों बन्धनों को नष्ट कर लेता हैं तो अर्हत् भूमि में प्रविष्ट होता हैं। अर्थात् अर्हत अवस्था को प्राप्त हो जाता हैं।

"बुद्ध"

सौगत परम्परा में एक ऐसे लोकात्तर मानव की कल्पना हैं, जो समस्त ज्ञेय पदार्थों को जान परम सत्य का साक्षात्कार कर, स्वयं शुद्ध एवं विमुक्त हो दूसरों के लिए विमुक्ति पथ का प्रदर्शन करता हैं। ऐसा देवता तथा मनुष्यों में श्रेष्ठ पुरूष ही बुद्ध कहलाता हैं। यहाँ किसी व्यक्ति का जातिगत या वंशगत नाम नहीं हैं। वरन् एक शिशिष्ट उपलब्धि-विषयक नाम हैं। 'चुल्लनिद्धेस' से प्रकट हैं कि 'बुद्ध' जैसा नाम माता, पिता, भाई, बहन, मित्र, सम्बन्धी, श्रमण, ब्राह्मण या देवता द्वारा दिया हुआ नहीं हैं, वरन् बोधिमूल में विमोक्ष-पुरस्सर सर्वज्ञता के अधिगम के साथ उपलब्ध एक प्रज्ञप्ति हैं। यह उस पुरूष का अभिधान हैं, जिसने चार आर्य सत्यों को जान लिया हैं, सर्वज्ञता को प्राप्त कर लिया हैं, राग, द्वेष, मोह आश्रव तथा अन्यान्य क्लेशों से पूर्णतः विमुक्त हो परम सम्बोधि का अधिगमकर, सब कुछ यथार्थ रूप में जान प्रजा को उपदेश करता हैं। ऐसा अम्बुद्धिविहित तथा बुद्धि प्रतिलाभी, पुरूष ही बुद्ध कहलाता हैं। वह स्वयंभू, अनाचार्यक, समस्त पदार्थों का ज्ञाता, सभी बलों पर वशिभाव प्राप्त तथा सर्वज्ञ होता हैं।

"बोधिसत्व"

बौद्ध परम्परा में एक अपूर्व व्यक्तित्व की चर्चा उपलब्ध हैं। वह एक ऐसा प्राणी हैं, जो पूर्ण अनासक्ति के साथ अपने सर्वस्व का त्यागकर प्राणिमात्र के कल्याणार्थ सदा सत्कर्म-रत देखा जाता हैं। उसके सामने 'स्वविषयक' चिन्ता पूर्णतः उन्मूलित रहती हैं। तथा केवल अद्भूत रहती हैं। भावना बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय की अपने शरीर मन एवं वाणी की दारूण दुःख वेदनायें उसे ततिक भी विचलित नहीं कर पाती हैं, पर क्षण भर का भी पर दुःख उसे असह्या हो जाता हैं। ऐसे अलौकिक व्यक्ति का नाम हैं - "बोधिसत्व"।

बोधिसत्व दो शब्दों से निष्पन्न हैं। वे हैं बोधि तथा सत्व। बोधिशब्द सम्यक्ज्ञान - लोकोत्तर प्रज्ञा, सर्वज्ञता, सम्पक् संम्बोधिका अधिवचन हैं। सत्व का अभिप्राय, प्राणी, मनुज, मानव आदि से हैं। अतः बोधिसत्व से एक ऐसे प्राणिविशेष का ध्योतन होता हैं जो सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति का अभीप्सु हो । स्पष्ट शब्दों में सम्बोधि लाभ के अनन्तर बुद्ध पर सम्यक् संम्बुद्ध नाम से अभिज्ञात पुरूष विशेष के पद बुद्धत्व के लाभ की इच्छा से सम्यक् मार्ग प्रतिपन्न सत्व को "बोधिसत्व" कहा जाता हैं। इसे बुद्धत्व का अभ्यर्थी कहा जा सकता हैं। बोधिसत्व के जीवन का प्रधान लक्ष्य हैं :-

नत्वहंकामयेराज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।।

मैं न राज्य चाहता हूँ, न स्वर्ग, नमोक्ष,। मैं चहाता हूँ कि दुःखी प्राणियों का दुःख नाश हो।

"पारमिता"

बुद्ध कारकधर्मों को पारमी या पारमिता कहा गया हैं। इस शीर्ष के अन्तर्गत ऐसे दस धर्मों का कथन हैं, जिनकी सम्यक् परिपूर्ति के फल स्वरूप बुद्धत्व की प्राप्ति इष्ट हैं। परम्परा से स्पष्ट हैं कि अतीत के सभी बोधिसत्वों ने इन धर्मो का पूर्णत: परिवाचन किया था। उनकी ऐसी चर्चा को लक्ष्य कर ही ये पौराणिक बोधिसत्वों द्वारा आसेवित, निसेवित कह गये हैं। ये दस धर्म हैं -

1 - दानपारमिता
2 - शीलपारमिता
3 - नैष्क्रम्यपारमिता
4 - प्रज्ञापारमिता
5 - वीर्यपारमिता
6 - क्षान्तिपारमिता
7 - सत्यपारमिता
8 - अधिष्ठानपारमिता
9 - मैत्रीपारमिता
10 - तथा उपेक्षापारमिता

पारमिता का अर्थ पार चलाजाना· (पारम्इता) अथवा पराकाष्ठा को प्राप्त करना हैं। बोधिसत्व की चर्चाओं से अभिदर्शित हैं, कि उन्हों ने दान, शील आदि धर्मों का कोटिनिष्ठपरिपूर्ति की थी, फलत: ये पारमी अर्थात् पारमिता के नाम से अभिहित हुए। इन्हें धर्म विशेष की परिपूर्ति का परमभाव भी कहा जा सकता हैं। बुद्ध के प्रादुभाव से बौद्ध शासन का अस्तित्व हैं तथा इन दोनों के मूल स्वरूप पारमितायें हैं।

"त्रिपिटक"

जिस बुद्ध वचन का गत पाँच सङ्गीतियों में संगायन तथा अन्त में अभिलेखन हुआ, वह आज हमें त्रिपिटक के रूप में प्राप्त हैं। यह त्रिपिटक :- विनयपिटक, सुत्तपिटक, तथा अभिधम्मपिटका सम्मिलित नाम हैं। यह बुद्ध शिक्षा के त्रेविध्य का घ्योतक हैं। इस प्रकार चारसौं तैंतीस वर्षों तक स्मृति पथका अवलम्बनभूत बुद्ध वचन सर्वप्रथम "लंका" में वट्टगामिनी अभय के समय लिपिबद्ध त्रिपिटक के रूप में अवतरित हुआ।

पिटक शब्द का सामान्य अर्थ भाजन अथवा पात्र होता हैं। प्राविधिक रूप में यह परियत्ति अर्थात् बुद्ध के उपदेशों का अभिव्यञ्जक हैं। पिटक अर्थात् पात्र की उपयोगिता वस्तु संधारण के लिए हैं। जब कभी भी पात्र की अभिव्यक्ति की जाती हैं, तो उसमें निहित वस्तु की भी संभावना देखी जाती

हैं। वह स्वयं अपनी स्थिति को बनाये हुए उस में निहित वस्तु को भी स्थिति का संरक्षण करता हैं। इस दृष्टि से पिटक शब्द पात्र एवं पात्र गत वस्तुओं का ध्योतन करते हुए दो अर्थो से समुपेत हैं। अतः वह पात्र जो बुद्धवचन का ध्योतन, धारण एवं संरक्षण करता हैं, पिटक कहलाता हैं। आचार्य बुद्धघोष ने इस तथ्य पर प्राकाश डालते हुए कहा हैं। यथा :-

पिटकं पिटकत्थविदू, परियत्तिभाजनत्थतोआहु।
तेन समाधानेत्वा तयो पि, विनयादयो ञेय्याति।।

इस प्राकर त्रिविध शिक्षा :- विनय, सुत्त एवं अभिधर्म का धारण करते हुए धारक एवं धार्य दोनों इससे अभिप्रेत हैं।

"विनयपिटक"

भगवान बुद्ध के आचार विषयक उपदेशों के संग्रह का नाम "विनयपिटक" हैं। इसमें भिक्षु जीवन के सर्वांग विकास के लिए नियमों का कथन हैं। इन नियमों के सम्यक् परिपालन में ही भिक्षु-जीवन की सार्थकता कही गयी हैं। इसलिये विनयको बुद्ध-शासन की आयु भी कहते हैं। विनय की स्थिति से ही शासन की स्थिति हैं। संघ में रहते हुए साधुजीवन व्यतित करते हुए भिक्षुओं के लिए क्या कर्त्तव्य तथा क्या अकर्त्तव्य है, इसका पूर्णविवरण विधि-निषेध क्रम से विनयपिटक में उपलब्ध हैं। इसलिए इसे "अधिशील शिक्षा" या "आणा-देसना" या "संवर-असंवार" कथा भी कहा जाता हैं। प्रसंगानुकुल नियमों के सुष्ठु परिपालन के गुण तथा व्यतिक्रम के लिए दण्ड का भी विधान हैं। इस दृष्टि से इसका नाम यथा अपराध शासना हैं। आचार्य बुद्धधोष ने कहा हैं कि :- "विविध विसेसनयत्ता, विनयतो चेव कायवाचानं।
विनयत्थविदूहि अयं, विनयो विनयोति अक्खातो।।"
विनयपिटक के मुख्य तीन विभाग हैं, जिन्हे :- सुत्तविभंग, खन्ध तथा परिवार पाठ कहते हैं। सुत्तविभंग पुनः भिक्खु-विभंग तथा भिक्षुनी-विभंग नामक दो भागों में विभक्त हैं। इसी प्रकार महावग्ग तथा चूलवग्ग खन्धक के दो विभाग हैं। इस क्रम से विनयके पाँच विभाग हैं। विभाजन के एक दूसरे क्रम से यह पाराजिक, पाचित्तिय, महावग्ग, चूलवग्ग तथा परिवार पाठ नामक पाँच विभागों में विभक्त हैं।

"सुत्रपिटक"

जम्बूद्वीप के विभिन्न ग्राम - निगम - जनपदादि में चारिका करते हुए दिये गये भगवान बुद्ध के सामान्य उपदेशों का संग्रह सुत्रपिटक हैं। इस में उपदेशो का कथन समागत मनुष्यों के अध्याशय, अनुशय, अभिमुक्ति आदि को जानकर तदनुकूल उपमा, नय, दृष्टान्त, आदि के सहारे अतिसरल एवं बोधगम्य ढंग से हुआ हैं। संभवतः इसके क्रम को लक्ष्य कर ही इसे 'व्यवहारदेशना" या - "यथानुलोम - शासन" भी कहा जाता हैं। पुनः इसके अनेक सुत्रों में प्रधान या गौण रूप से

मिथ्यादृष्टियों का कथन एवं उनके प्रहाण का मार्ग प्रज्ञप्त हैं। इन दृष्टियों के जाल से मुक्त कराने में इनकी देशनायें :- "दिट्ठिविनिवेठनकथा" नाम से अभिहित हैं। इसके स्वरूप की चर्चा करते हुए बुद्धफोष ने कहा हैं :-

"सुत्तानं सूचनतो सुवुत्ततो, सवनतो चसूदनतो।
सुत्ताणा सुत्तसमागतो च, सुत्तं सुत्तंति आक्खातं ति।।"

अट्ठसा : 4.11

सुत्रपिटक पाँच निकायों में विभक्त हैं। वे हैं :-

दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुक्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय तथा खुद्धक निकाय। दीघनिकाय में दीर्घ आकारवाले चौंतीस सुत्तों का संग्रह हैं, जो तीन वर्गों में विभक्त हैं। ब्रह्मजालसुत्र इसका आदि सुत्र हैं। इसी प्रकार मूलपरियायसुत्त से प्रारम्भ मज्झिमनिकाय मध्यमपरिणामवाले एकसौं बावन सुत्तों का संग्रह हैं। ये पन्द्रह वर्गों में विभक्त हैं। संयुक्तनिकाय दीर्घ, मध्यम एवं लघु आकार वाले सात हजार सात सौं बासठ सुत्तों का संग्रह हैं, जो छप्पन संयुक्तों में विभक्त हैं। ओघतरणसुत्त इसका आदिसुत्त हैं। अंगुत्तर निकाय में एक से लेकर ग्यारह अंकों के सहारे उपदेशों का कथन हैं। इसके ग्यारह निपातों विभक्त नव हजार, पाँच सौं सन्तावन सुत्त हैं। चित्तपरियादान सुत्त इसका अदिसुत्त हैं। खुद्धक निकाय में खुद्धक पाठ, धम्मपद, जातक आदि पन्द्रह छोटे बड़े ग्रन्थ हैं।

"अभिधम्मपिटक"

भगवान बुद्ध के वे उपदेश जो परमार्थ के प्रतिपादनार्थ कथित हैं तथा जिन में दर्शन के तत्वों का सम्यक् समुद्घाटन एवं विवेचन हैं, अभिधम्मपिटक में संगृहीत हैं। बुद्धघोष के अनुसार धर्मातिरेक धर्म विशेष अर्थ में अभिधर्म शब्द प्रयुक्त हैं। ऐसे अतिरेक एवं विशेषभाव इसके विषय, अभिव्यक्ति, विषय-विभाजनादि क्रम सभी दृष्टियों से देखे जाते हैं।

धम्मसंगणि, विभंग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञति, कथावत्थु, यमक तथा पट्ठान नामक इसके सात प्रकरण हैं। इन सभी प्रकरणों में विभिन्न पर्यायों से चित्त, चेतसिक, रूप तथा निब्बान नामक चार परमार्थ धर्मों पर प्रकाश डाला गया हैं। इसके ऐसे स्वरूप के कारण इसे "परमत्थदेसना" या "यथाधम्मसासन" या "नाम रूप परिच्छेद" कहा गया हैं। आचार्य बुद्धघोष इसकी चर्चा करते हुए कहते हैं कि :- यं एत्थ वुड्ढि मन्त्तो सलकखणापूजितापरिच्छिन्ना।
वुत्ताधिकाच धम्मा अभिधम्मोतेन आक्खातो।।
अट्ठसा :-17.11.

आष्टांगिकमार्ग एवं तीन स्मन्ध

आर्य अष्टांगिक मार्ग शील, समाधि एवं प्रज्ञा तीन स्मन्धें से समन्वित हैं।

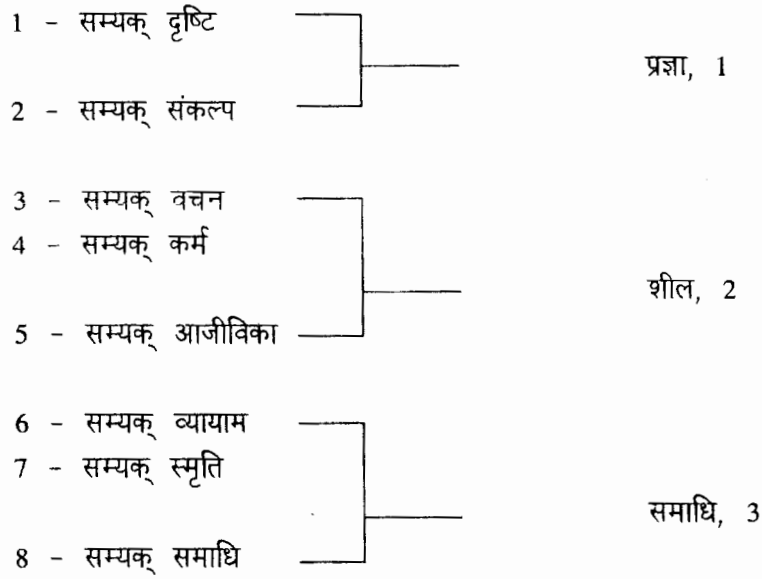

शील, समाधि एवं प्रज्ञा के द्वारा "निर्वाण" का अधिगम किया जा सकता हैं। यही दुःख निरोध का मार्ग हैं तथा इसे मज्झिमा पटिपदा या मध्यम प्रति पद कहा जाता हैं।

दस पारमिताओं का छ में अन्तर्भाव निम्न तालिका से स्पष्ट।

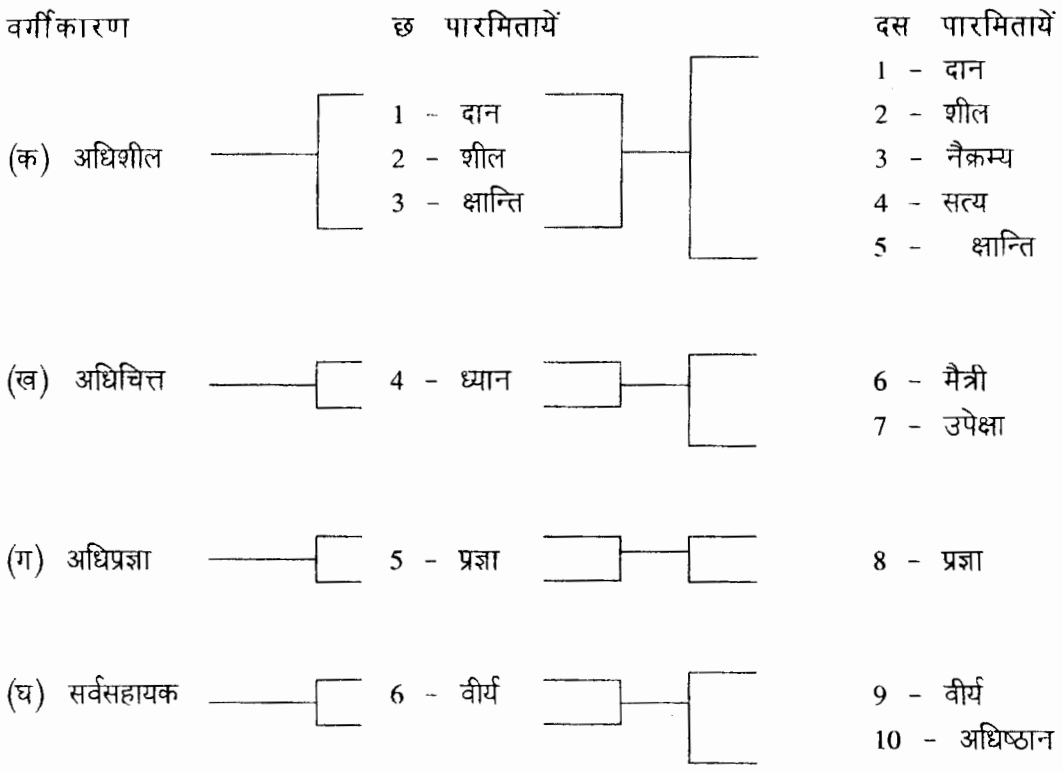

इस प्राकर पारमिताओं की तीन सूची उपलब्ध होती हैं :- स्थविरवादसम्मत दस, महायानसम्मत छ तथा दसभूमिसूत्र आगत दस।

दस परमिताओं के साथ मार्गाङ्ग एवं तीन स्कन्धों का समावेस

त्रिविध शिक्षा	मार्गाङ्ग	पारमिता
	सम्यक् वचन	सत्यपारमिता
शील	सम्पक् कर्म	दानपारमिता
	सम्यक् आजीविका	शान्तिपारमिता
	सम्यक् व्यायाम	वीर्यपारमिता
समाधि	सम्यक् स्मृति	मैत्रीपारमिता
	सम्यक् समाधि	उपेक्षापारमिता
		अधिष्ठानपारमिता
प्रज्ञा	सम्यक् दृष्टि	प्रज्ञापारमिता
	सम्यक् संकल्प	नैष्क्रम्यपारमिता

इस प्रकार स्थविरवादी परम्परा में दस पारमितायें।

1 - अमिधर्म कोश - 4/49
2 - दीघनिकाय - 2/141
3 - कथावत्थु - 17/1
4 - अमिधर्मकोश - 4/125,6/24,7/30,34
5 - मज्झिमनिकाय - 1/164
6 - दीघनिकाय - 3/223
7 - मज्झिमनिकाय - 1/455,3/28
8 - अंगुत्तरनिकाय - 4/423
9 - अमिधर्मकोश - 6/43
10 - संयुक्तनिकाय - 3/25,22/22
11 - सुत्रनिपात् 3/33, 4/82
12 - संयुक्तनिाकय 3/25, 22/22
13 - मज्झिमनिकाय - 1/172
14 - महावग्ग - 1/6/92
15 - उदान - 8/10
16 - उदानवर्ग - 30/36
17 - अभिधर्मकोश - 4/229
18 - अंगुत्तर - 4/414
19 - अंगुत्तर - 1/10
20 - अभिधर्मकोश - 6/77
21 - दीघनिकाय - 1/73
22 - अट्ठसालिनी - पृ 140
23 - मज्झिमनिकाय - 3/103
24 - अभिधर्मकोश - 5/8
25 - अंगुत्तरनिकाय - 2/206
26 - मज्झिमनिकाय - 1/341
27 - अभिधर्मकोश - 3/12
28 - मज्झिमनिकाय - 1/510
29 - अंगुत्तरनिकय - 1/149
30 - अमिधर्मकोश - 1/101, 2/110, 112, 116,
31 - संयुक्तनिकाय - 5/181
32 - अंगुत्तरनिकाय - 4/454
33 - अंगुत्तरनिकाय - 4/454
34 - संयुक्तनिकाय - 4/374

35 - नेत्तिप्रकरण -
36 - अभिधर्मकोश - 5/19
37 - संयुक्तनिकाय - 3/10,9
38 - अभिधर्मकोश - 4/2
39 - संयुक्तनिकाय - 13/5
40 - अभिधर्मकोश - 2 पृ 284
41 - अभिधर्मकोश - 6/4
42 - अंगुत्तरनिकाय - 2/164
43 - अभिधर्मकोश - 6/4
44 - अभिधर्मकोश - 2/55
45 - उदान - 8/10
46 - मज्झिमनिकाय - 1/487
47 - थेरीगाथा - 115
48 - सुत्तनिपात - 10/74
49 - मज्झिमनिकाय - 1/167
50 - उदान - 8/3
51 - इतिवुत्तक - 43
52 - अंगुत्तरनिकाय - 2/34
53 - संयुक्तनिकाय - 31/12
54 - संयुक्तनिकाय असंखतवग्ग - 4/357
55 - इति वुत्तक - 51
56 - अंगुत्तर निकाय - 4/423
57 - सद्धम्मसंगहो . 26, 27, 28,
58 - मज्झिमनिकाय - 1, 127,
59 - अंगुत्तर निकाय - 18, 19, 16, 17, 1, 2,
60 - निदान कथा - 4, 11, 17, 11, 18,
61 - चुल्लनिद्धेस - पृ - 208, 209, 292, 399,
62 - विसुद्धिमग्ग - पृ - 399, 7/52
63 - मध्यमकवृत्ति - 457, सिद्धि - 4, 568,